एकात्म मानवदर्शन

एक अध्ययन

दत्तोपंत ठेंगड़ी

एकात्म मानवदर्शन

एक अध्ययन

• दत्तोपंत ठेंगड़ी

लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

प्रकाशक :

लोकहित प्रकाशन

राजेन्द्र नगर (पूर्व)

लखनऊ

मूल्य : रु. ४.००

पंचम संस्करण

१७ सितम्बर,

विश्वकर्मा जयन्ती, २००४

संवत – २०६०

मुद्रक :

नुतन आफसेट मुद्रण केन्द्र

संस्कृति भवन, राजेन्द्र नगर

लखनऊ

मनोगत

द्यावा....पृथिवी.....अन्तरिक्ष। भारतीय मनीषा ने अपने चिन्तन में कहीं कोई दिग्भेद नहीं किया। प्राणिमात्र को लेकर जहाँ तक ऊहापोह और सिद्धान्त निर्धारण का प्रश्न है भारतीय चिन्तन में द्वेष, द्वैत और द्वैधीभाव के लिए कोई स्थान नहीं—सिद्धान्त भी किस तरह साकार हों—उपाय बताया। अपने—अपने चरित्र से शिक्षा दो—स्वं—स्वं चरित्रं शिक्षेरन्.......। और यह शिक्षादान किंवा मानवहित चिन्तना देशकाल की दीवारें लाँघ गई। शिक्षा क्या किसी एक वर्ग, एक जाति, एक सम्प्रदाय या देश विशेष को देना है ? नहीं, 'पृथिव्यां सर्व मानवाः'— पृथिवी के सब मनुष्यों को सत् शिक्षा और संस्कार देने हैं। सर्वव्यापी सेवाभाव। प्राणिमात्र को अपनी सेवा का लक्ष्य बनाकर भारतीय मनीषा ने यज्ञ रचे— युद्ध लड़े—वेद साक्षी है कि दाशराज सरीखी दीर्घकालिक लड़ाइयाँ, इस धरती पर लड़ी गईं—बड़े—बड़े ऋषि अगस्त्य, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि उन युद्धों के आयोजक संचालक थे और यह परम्परा त्रेता तथा द्वापर तक मिलती है। किन्तु युद्ध, युद्ध के लिए नहीं— अखिल मानवता का हित उसमें आधार—भूत रहा और यह आधार गहन चिन्तन सर्वव्यापी सेवाभाव से प्रादुर्भूत था। एक हाथ में योग और दर्शन दूसरे हाथ में शस्त्र; किन्तु दोनों का साध्य मात्र मानवहित। प्राणीमात्र में एक ही आत्मा मानकर वैदिक, प्राग्वैदिक युग में अथवा इतने प्राचीनकाल में यदि किसी देश में चिन्तन—मनन एवं विचार—दर्शन संप्राप्य हुए तो वह यही देश है। उस विचार दर्शन में देश के प्रति अनन्य निष्ठा, श्रद्धा और परिपूर्ण समर्पण—भाव होते हुए भी निखिल

भुवन के मानवों के लिए उत्कट सेवाकाँक्षा समरस है। आज यदि कम्बोडिया के उत्खनन में अगस्त्य के शिलालेख मिलते हैं, इण्डोनेशिया में रामलीला होती है, जापान में भारतीय सन्त धर्मबुद्धि के खिलौने बिकते हैं, चीन की प्राचीन गुफाओं में 'सिद्धम् लिपि' उत्कीर्ण मिलती है, सायबेरिया निवासी स्वयं को 'मी जम्बू दीपीन' मैं जम्बू द्वीप का हूँ– कहता है, ईरान के वर्तमान शासक वेदों के फारसी अनुवाद के लिए १० लाख रुपये स्वीकृत करते हैं; अरब के काबा शरीफ' में संगेअस्वद (काले पत्थर) के रूप में शिवलिंग के अवशेष प्राप्त हैं, जर्मनी देश में स्वस्तिक सम्मान्य है तो उसका श्रेय भारतीय चिन्तन के आधारभूत एकात्म मानववाद को है।

कालान्तर से एक जर्मन यहूदी कार्लमार्क्स ने शोषित–पीड़ित मानव को सुखी बनाने की दिशा में चिन्तन किया तो उसे भी जर्मन दार्शनिक हीगेल का द्वन्द्ववाद आत्मसात् करना पड़ा और हीगेल ने यह विचार शंकराचार्य के अद्वैतवाद से पाया था। इसीलिए हीगेल का द्वन्द्ववाद आत्मवादी है– किन्तु मार्क्स ने उसे अपनी प्रवृत्ति और जरूरत के अनसुार अनात्म यानी जड़वादी रूप दे दिया। डायलेक्टिकल मटेरियलिज्म–द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही मार्क्सवाद किंवा कम्युनिज्म का आधार है। संसार भर के श्रमिकों की एकता का नारा मार्क्स ने प्रस्तुत किया किन्तु उससे मनुष्यमात्र की एकता के सूत्र छिन्न हो गये। जहाँ–जहाँ कम्युनिस्ट सरकारें बनीं, वे देश चाहे युगोस्लाविया हो या चेकोस्लावाकिया, रूस हो या चीन 'सब मनुष्य एक हैं'– यह विचार क्रियान्वयन पाने के बजाय अतल में चला गया। चीन–रूस के श्रमिक परस्पर शत्रु हैं, रूस और चेकोस्लावाकिया के श्रमिक भी एक दूसरे को सहन नहीं कर सकते। स्पष्ट है कि यह द्वेष और शत्रुभाव उतरा उच्चपदस्थ कम्युनिस्ट नेताओं के हाथों। कम्युनिज्म के द्वारा मानव मात्र की एकता और शान्ति का आह्वान एक निराशाप्रद विचार बनकर

रह गया।

ऐसी स्थिति में दुनिया भर के मजदूरों, किसानों, बुद्धिजीवियों और मानवमात्र को मनुष्य की एकता, शान्ति और सेवा का सन्देश कौन देगा ? जब हम इस प्रश्न का उत्तर खोजने बैठेंगे तो एक शहीद सपूत का सामान्य–सा व्यक्तित्व हमारे सामने आ खड़ा होगा। मामूली कपड़े और उनके प्रति पर्याप्त उपेक्षाभाव, दुबली–पतली काया, दार्शनिकों सरीखी भाव–भंगिमा। प्रतिभादीप्त आँखों में असीम को निकट खींच लाने की उत्कटता। यही थे पं० दीनदयाल उपाध्याय। केवल 'दीनदयाल' भी कह सकते हैं। पृथिवी भर के मानवों के सेवा–भाव ने उन्हें विकल बनाया– उनका घर–बार छुड़ाया, दर–दर भटकाया और एक दिन मुगलसराय स्टेशन के निकट ट्रेन से फेंकी गई एक 'लावारिस लाश' के रूप में वे पाए गये। अखिल मानवता के उत्थान एवं त्रास–मुक्ति का सपना संजोये वे चले गये– शहीद के पथ से गये। विरासत में दे गये दुनियाँ को एक अनुपम देन– 'एकात्म मानवदर्शन'। अभी वे इसको विशद् रूप नहीं दे पाये थे, केवल सूत्र रूप में देश और दुनिया के सामने रखा था। सूत्र रूप में प्रस्तुत उनका यह चिन्तन प्राचीन भारतीय जीवन की चिन्तनधारा की एक नव्य प्रस्तुति है– वे तो द्रष्टा थे– प्रस्तोता थे– वह परम दिव्य ज्ञानधारा, चिन्तन–राशि तो अनादि है। संसार उससे लाभान्वित हो, उजागर हो, इसी सदुद्देश्य से 'पं० दीनदयाल उपाध्याय स्मारक शिक्षा समिति, उत्तर प्रदेश' ने एक महत्त्वपूर्ण अभियान चलाया है। उसके अन्तर्गत विभिन्न क्रियान्वयन होंगे-- यथा समाज के वैचारिक जागरण के लिए व्याख्यानमाला, नवीन शोधकार्य विद्यालय स्थापन, छात्रवृत्तियाँ आदि।

'पं० दीनदयाल उपाध्याय स्मारक शिक्षा समिति' ने सद्यः ऐसी ही एक व्याख्यानमाला फरवरी १६७० में कानपुर में आयोजित की। जिसमें ख्यातिनामा श्रमिक नेता श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी (संसद सदस्य) ने पंडित

दीनदयाल जी के 'एकात्म मानवदर्शन' की व्याख्या प्रस्तुत की। 'एकात्म मानवदर्शन' को समझने में सुविधा एवं सरलता हो सके इसी दृष्टि से ठेंगड़ी जी की व्याख्या को पुस्तक रूप में प्रस्तुत किया गया है। विश्वास है कि सभी क्षेत्रों में वह उपयोगी सिद्ध होगी। शिक्षा से ही संस्कार जन्मते हैं– महान् सिद्धान्त जीवन में चरितार्थ होते हैं। उक्त समिति इसी ध्येय से प्रेरित होकर कार्यरत है।

'एकात्म मानवदर्शन' जैसे महान् दर्शन की यह व्याख्या समिति के संचालकों ने कृपा कर हमें प्रकाशित करने की अनुमति दी, एतदर्थ हम उनके चिरकृतज्ञ हैं।

स्वातन्त्र्य संग्राम दिवस — **प्रकाशक**

१० मई, १९७०

एकात्म मानव दर्शन के मंत्रद्रष्टा

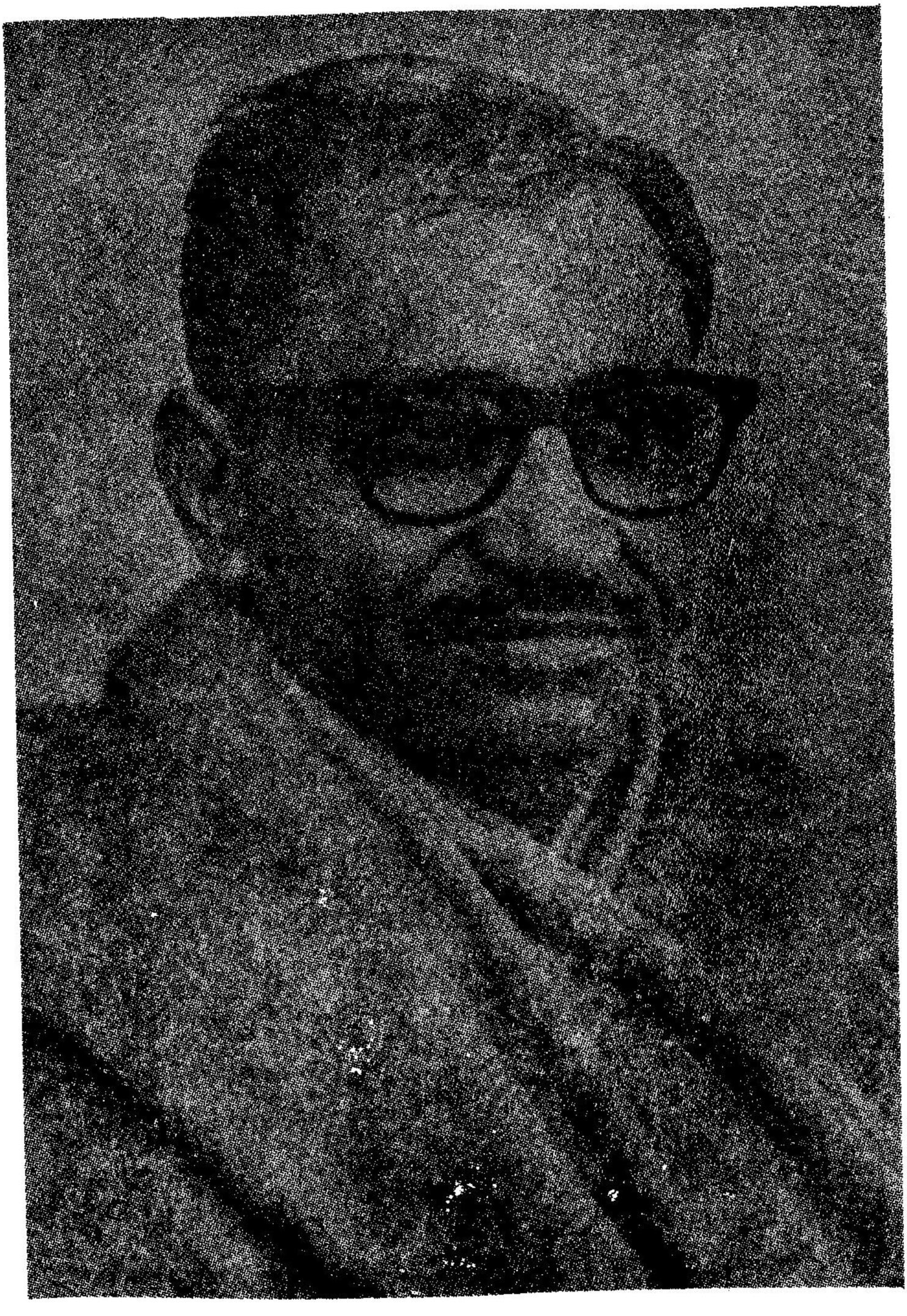

स्व. पं. दीनदयाल जी उपाध्याय

एकात्म मानववाद : एक अध्ययन

(पं० दीनदयाल उपाध्याय स्मारक शिक्षा समिति द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला के अन्तर्गत श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी का अभिभाषण।)

आज का यह अवसर हम सभी लोगों के हृदय में जिन उत्कट भावनाओं का सृजन कर रहा है, उनका न तो शब्दों में वर्णन कर पाना सम्भव है और न ही उन्हें व्यक्त करने की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि यहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति की मनःस्थिति से हम सभी भलीभाँति परिचित हैं। सम्प्रति हमारे लिए उचित यही होगा कि हम स्वर्गीय पं० दीनदयाल जी के कर्मनिष्ठ और तपःपूत जीवन या अध्ययन करने के साथ–साथ उस श्रेष्ठ दर्शन पर भी मनन करें जिसे पं० जी ने अपनी विश्लेषक बुद्धि का परिचय देते हुए समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है। यदि यह कहा जाय कि उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ के पथिक बनकर ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की जा सकती है, तो अत्युक्तिपूर्ण न होगा।

श्रेष्ठतम दिन

एकात्म मानववाद का विचार इस संसार को पं० जी की श्रेष्ठतम देन है। वर्तमान राजनीतिक उठापटक में लिप्त अथवा उसके सन्दर्भ में विचार करने वाले व्यक्ति को यह भ्रम हो सकता है कि पं० जी ने अन्य प्रचलित वादों अथवा राजनीतिक विचारधाराओं का खण्डन करने के लिए 'एकात्म मानववाद' के नाम से एक नवीन 'वाद' अथवा 'नयी राजनीतिक विचारधारा' का प्रतिपादन किया होगा। इसी भाँति यह

तथ्य भी सर्वविदित है कि नवीन 'वाद' या 'नयी राजनीतिक विचारधारा' का प्रतिपादन करने वाले व्यक्ति इस अहंभाव से युक्त होते हैं कि उन्होंने कुछ नया निर्माण किया है। पश्चिमी जगत् में तो यह पद्धति बहुत अधिक प्रचलित है। वहाँ पर यदि कोई विचारक तत्कालीन विचारधारा से थोड़ा भी मतभेद रखता है तो वह अपने आपको एक नवीन 'वाद' का उद्घोषक घोषित कर देता है। किन्तु पण्डित जी का यह दृष्टिकोण जीवनपर्यन्त कभी भी नहीं रहा। भारतीय संस्कृति के एक श्रेष्ठ अनुयायी होने के कारण ऐसा क्षुद्र विचार उनके मन को कभी छू भी न सका। इसी कारण उनकी यह मान्यता थी कि गीता में भगवान कृष्ण के कथनानुसार सत्य ज्ञान सनातन काल से चला आ रहा है। देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार उसके व्यक्त स्वरूप में कुछ अन्तर दिखाई दे सकता है; किन्तु उससे कोई नवीन ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः पं० जी ने अपनी सृजनात्मक शक्ति अथवा भावात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग उसी सत्य सनातन ज्ञान को संसार के सम्मुख नवीन रूप में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार रखने में किया। इस प्रकार एकात्म मानववाद का विचार प्रचलित वादों में विद्यमान न्यूनताओं को दूर कर उन्हें परिपूर्ण बनाने के लिए ही किया गया है, उसे प्रस्तुत करते समय अन्य वादों या विचारधाराओं का खण्डन कर समाज में वैचारिक कटुता को बढ़ाना पं० जी को कभी भी अभीष्ट न था।

'वाद' या 'इज्म' क्यों?

इसका नाम 'वाद' या 'इज्म' क्यों रखा गया। वैसे पं० जी स्वयं 'वाद' के पक्षपाती कभी भी नहीं थे। उनका मत था कि जो सत्य और सनातन है वह न तो वाद के चौखट में ठीक बैठेगा और न बदलती हुई परिस्थितियों का मुकाबला कर सकेगा। दूसरे शब्दों में 'वाद' या 'इज्म' कभी भी सभी देशों के लिए और समस्त कालों के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। यही उनकी भावना थी। यही उनकी दृष्टि थी। किन्तु

आज कुछ लोगों का आकलन शक्ति की भी एक सुनिश्चित पद्धति बन गयी है, और वह पद्धति 'वाद' अथवा 'इज्म' की है। अतः सर्वसाधारण की सुविधा के लिए ही 'वाद' अथवा 'इज्म' शब्द का प्रयोग पंडित जी ने किया।

किन्तु इस सम्बन्ध में कोई भ्रम उत्पन्न न होने पाए इसलिए उनका कहना था कि जिस तरह सामान्य व्यक्ति के लिए निर्गुण या निराकार ब्रह्म पर चित्र को एकाग्र करना कठिन होता है और इसलिए सगुणोपासना का सहारा लिया जाता है और इस सगुणोपासना के माध्यम से सामान्य साधक के लिए आगे चलकर निर्गुण की साधना भी शक्य हो जाती है, उसी भाँति एकात्म मानववाद पर लोगों की चित्तवृत्तियाँ केन्द्रित हो जाने के बाद वादातीत (Ismlessness) स्थिति पर या वादों से ऊपर सनातन ज्ञान एवं धर्म पर मन एकाग्र करना भी सामान्य व्यक्ति के लिए आसान हो जायेगा।

वे फिलासफर नहीं द्रष्टा थे

हमारे पं० दीनदयाल जी 'फिलासफर' नहीं थे। 'वाद' चलाना फिलासफर का काम होता है किन्तु पं० जी के सन्दर्भ में फिलासफर शब्द का प्रयोग करना उनके प्रति लघुता दिखाना होगा। वे तो भारतीय मनीषियों की भाँति द्रष्टा थे और इस कारण उन्होंने जो कुछ भी देखा है वह एक दर्शन है। विदेशी भाषा का शब्द 'फिलासफी' उसे व्यक्त करने में सक्षम नहीं है। यह दर्शन कोई नवीन अथवा अपरिचित न होकर इसी भूमि का दर्शन है। इन उपर्युक्त विचारों को ध्यान में रखना इसलिए आवश्यक है, जिससे आगे चलकर 'वाद' शब्द के कारण हमारी धारणा में गड़बड़ न होने पाये।

यह आवश्यकता क्यों?

'एकात्म मानववाद' यह शब्द और कल्पना इस समय प्रस्तुत

करने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई ? विशेष रूप से उस समय जबकि आज पश्चिम की ओर से कई वाद या विचार अपने देश में आ रहे हैं, लोकप्रिय हो रहे हैं और वे अपने आपको प्रगतिशील भी कहते हैं। अनेकों व्यक्तियों का कहना है कि यदि हमारी समस्याओं का हल पश्चिमी वादों या विचारधाराओं से हो सकता है तो हम अपने मस्तिष्क को तकलीफ क्यों दें ? यह पश्चिम की विचारधारा है, केवल इसलिए इसको त्याज्य समझा जाय, यह भी ठीक नहीं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह उचित होगा कि हम पश्चिम के वैचारिक मंच पर जो नाटक पिछले तीन–चार सौ वर्षों में हुए हैं उनका संक्षेप में अवलोकन करें।

पश्चिम का वैचारिक रंगमंच

सर्वप्रथम हम पंथ अथवा रिलीजन का विचार करें। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस समय यूरोपीय रंगमंच पर रिलीजन का यह नाटक शुरू होता है, उसमें सभी व्यवस्थाएँ उसकी केन्द्रानुवर्ती थीं। पोप को केन्द्रबिन्दु मानकर सम्पूर्ण ईसाई जगत् उसके अन्तर्गत आता था। आगे चलकर पोप की इस केन्द्रानुवर्ती सत्ता के विरुद्ध दो प्रकार का विद्रोह हुआ। रिलीजन के इस दूसरे चरण में प्रथमतः यह भावना प्रखरतम होती गयी कि भक्त और भगवान के मध्य पोप सरीखा कोई मध्यस्थ नहीं होना चाहिए। फलस्वरूप प्रोटेस्टेंट आदि मतों का प्रचार हुआ। द्वितीयतः, यह भावना बलवती होने लगी कि देश–बाह्य शक्ति का हस्तक्षेप, भले ही वह रिलीजन के क्षेत्र में ही क्यों न हो, हमारे राष्ट्रीयता व्यवहार में नहीं होना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता (Nationalism) को प्रश्रय मिला। तीसरे चरण में हम देखते हैं कि रिलीजन के अस्तित्व पर ही प्रहार किया गया और यह कहा जाने लगा कि रिलीजन आदि सब झूठ है यह अफीम है, मानवीय शक्ति से परे किसी ईश्वरीय शक्ति की बात करना सत्य नहीं, केवल कोरी कल्पना है, जो कुछ भी इस सृष्टि का आदि, मध्यान्त होगा वह

ईश्वर–रहित भौतिक पदार्थ (Matter) है; और इस कारण रिलीजन यह केवल मन की कल्पना है। भौतिक तत्वों या पदार्थों को ही सृष्टि का मूल मानने के कारण इस बात पर बल दिया गया कि मस्तिष्क भी भौतिक तत्वों या पदार्थों की परिष्कृत रचना है (Mind is super structure on Matter)। दूसरे शब्दों में रिलीजन, संस्कृति, आचार–विचार (Ethics) आदि का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वरन् जिस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ होंगी उन्हीं का प्रतिबिम्ब रिलीजन, संस्कृति एवं आचार–विचार आदि में दिखाई देगा। इस प्रकार तीसरे चरण में भौतिक तत्व या पदार्थ (Matter) आधारभूत तत्व बन बैठा और उसने रिलीजन को पूर्णतः निष्कासित कर दिया।

नास्तिकवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया

यूरोपीय विकास के अगले चरण में इस भौतिकवादी नास्तिकवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। अनेक विद्वानों और विचारकों ने यह कहना प्रारम्भ कियां कि मार्क्स के समय में रिलीजन और चर्च की जो विकृत अवस्था थी उसको देखकर रिलीजन सम्बन्धी उसके विचारों का कुछ औचित्य भले ही रहा हो, किन्तु उसको सार्वदेशिक मान लेना अनुचित होगा। इसके स्थान पर अलग–अलग देशों में अलग–अलग कालखण्ड में रिलीजन की जो भूमिका रही है, उसके आधार पर उसका पुनर्मूल्यांकन करने पर बल दिया जाने लगा। विचारकों ने कहना आरम्भ किया कि यदि रिलीजन को मानव जीवन का मूलाधार न माना जाये तो भी उसकी स्वतन्त्र सत्ता को तो हमें स्वीकार करना ही होगा और यह मानना भूल होगी कि रिलीजन अफीम है अथवा उसका स्वरूप सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर ही सुनिश्चित होता है।

मार्क्सवादियों की मान्यताओं में बदल

इस विचारधारा के बल पकड़ने पर आगे चलकर हमें यह दिखाई

देता है कि भौतिकवाद (Materialism) के आधार पर ईश्वरीय सत्ता का निषेध करने वाले और रिलीजन को अफीम बताने वाले कार्लमार्क्स के अनेक शिष्यों ने ही इस मान्यता पर सन्देह करना आरम्भ कर दिया कि मार्क्स कोरे भौतिकवादी (Crude materialist) विचारक थे। कार्लमार्क्स द्वारा सन् १८४२ में व्यक्ति स्वातन्त्र्य और प्रेस स्वातन्त्र्य पर तथा सन् १८४४ में आर्थिक और दार्शनिक विषयों पर लिखे गये लेखों (Economical and philosophical manuscripts) के आधार पर इन शिष्यों ने यह कहना आरम्भ किया कि मार्क्स कोरे भौतिकवादी नहीं थे। उनके मतानुसार जिस भाँति निर्जीव भौतिक पदार्थ अमूर्त विचारों को प्रभावित करते हैं उसी भाँति अमूर्त विचार निर्जीव पदार्थों को भी प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार यदि एक ओर सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ रिलीजन, संस्कृति और आचार–विचार (Ethics) के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं तो रिलीजन, संस्कृति और आचार–विचार से सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियाँ भी निर्धारित होती हैं। दूसरे शब्दों में वे एक दूसरे को प्रभावित करती हैं (They act and react upon each other.)

चार सौ वर्षों का विश्लेषण

इस प्रकार यूरोप के इस ४०० वर्षों के इतिहास में हमें क्या दिखाई दिया ? व्यक्ति सबसे पहली इकाई है। रंगमंच का पर्दा जब खुलता है तो वहाँ दिखता है कि व्यक्ति का तो कोई अस्तित्व ही नहीं है। वह तो पोप के अन्तर्गत या मोनार्क के अन्तर्गत (अंग्रेजी भाषा के मोनार्क शब्द का किसी भी भारतीय भाषा में कोई पर्यायवाची शब्द नहीं है, सामान्य रीति से समझने के लिए उसे हम निरंकुश शासक या राजा कह सकते हैं) केवल कठपुतली मात्र है जिसकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं होती। अगले चरण में व्यक्ति के व्यक्तित्व का जागरण हुआ और इसीलिए उसे कुचलने वालों के विरुद्ध विद्रोह की प्रक्रिया आरम्भ हुई। इस भाँति दूसरे चरण में पोप और मोनार्की (निरंकुश राजतन्त्र) के

विरुद्ध विद्रोह हुआ। इस संघर्ष में पोपशाही का प्रभुत्व समाप्त हुआ और मोनार्की भी खत्म हो गयी। इसके बाद यह कल्पना उत्पन्न हुई कि प्रत्येक व्यक्ति का स्वातन्त्र्य अबाधित रहना चाहिए। व्यक्ति स्वातन्त्र्य का आश्वासन देने वाली रचनाएँ, जिन्हें संसदीय (पार्लियामेण्टरी) या लोकतान्त्रिक (Democratic) कहा जाता है, अस्तित्व में आई और यह आनन्द भी उत्पन्न हुआ कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति–स्वातन्त्र्य सुरक्षित रह सकता है। कालांतर में इस व्यक्ति–स्वातंत्र्य ने शोषण–स्वातंत्र्य को जन्म दिया और लोकतान्त्रिक संस्थाओं के अन्तर्गत बलवान निर्बलों का, धनी निर्धनों का, बुद्धिमान निर्बुद्धों का शोषण करने लगे। इस प्रकार यूरोप में अल्पसंख्यक शोषण और बहुतसंख्यक शोषित ऐसे दो वर्ग दिखाई देने लगे। फलस्वरूप अगले चरण में इस अमानुषिक विषमता के विरुद्ध विद्रोह की भावना प्रबल होने लगी। शोषण के विरोधियों ने उसे समाप्त करने के लिए शोषण स्वातन्त्र्य तथा उसे सुरक्षित रखने वाले व्यक्ति–स्वातन्त्र्य की समाप्ति पर बल दिया। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के व्यक्तित्व को समाप्त करने की माँग की जाने लगी। इस कार्य को सम्पादित करने के लिए एक ऐसी समग्रवादी या सर्वसत्ताधारी शक्ति (Totalitarianism) की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो राज्य में ही हो सकती है। ऐसे राज्य की प्रस्थापना में, व्यक्ति स्वातन्त्र्य की आड़ में, शोषण स्वातन्त्र्य का संरक्षण करने वाली सभी संस्थाओं का विरोध किया जाने लगा। अब क्रान्ति की आवश्यकता–रक्तमय क्रान्ति की आवश्यकता–अनुभव की जाने लगी, क्योंकि शोषण की समाप्ति लोकतान्त्रिक संस्थाओं द्वारा असम्भव प्रतीत हुई। इस प्रकार खूनी क्रान्ति के माध्यम से शोषितों की तानाशाही स्थापित करने का विचार प्रबल हुआ जिससे चारों ओर आनन्द का साम्राज्य कायम हो जाये। संयोगवश इसी आधार पर रूस में खूनी क्रान्ति भी हो गयी। किन्तु व्यवहार में दिखाई दिया कि तानाशाही सम्पूर्ण शोषित जन की नहीं, एक दल की है, उसके कुछ सत्ताधारी व्यक्तियों की है। समाज ने

इस स्थिति को भी इस आशा में बर्दाश्त कर लिया कि यह संक्रमण कालीन स्थिति है, जैसे ही सर्वहारावर्ग का तानाशाही शासन स्थायित्व प्राप्त कर लेगा, यह अवस्था बदल जायेगी। पर यह आशा पूर्ण न हुई और यह अनुभव किया जाने लगा कि एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों की तानाशाही स्थायी स्वरूप की है। इसके कारण इसके विरुद्ध विद्रोह की भावना व्यक्ति–व्यक्ति के मन में उस व्यवस्था के अन्तर्गत आज हमें दिखाई दे रही है।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य का नाटक

कम्युनिस्ट शासन व्यवस्था के अन्तर्गत अगले विकासक्रम में गुट की तानाशाही के विरुद्ध व्यक्ति स्वातन्त्र्य को स्थापित करने का प्रयास आरम्भ हो गया दिखता है। जिन देशों में कम्युनिस्टों का प्रत्यक्ष शासन नहीं है किन्तु कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं, वहाँ पार्टी के नेताओं में इस बात को लेकर मतभेद एवं विवाद आरम्भ हो गए हैं कि शोषण को समाप्त करने के लिए लोकतान्त्रिक संस्थाओं को ही क्यों न माध्यम बनाया जाय। एक प्रभावशाली वर्ग का कहना यह है कि खूनी क्रान्ति का विचार मार्क्स के समय में भले ही सत्य एवं अपरिहार्य रहा हो किन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में संसदीय संस्थाओं का प्रयोग करके भी सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित की जा सकती है। दूसरी ओर उन देशों में जहाँ कम्युनिज्म की विचारधारा बिल्कुल भी प्रभावी नहीं है और जहाँ मोनार्की (निरंकुश राजतन्त्र) के स्थान पर संसदीय प्रद्धति और लोकतान्त्रिक संस्थाओं का स्वागत व्यक्ति के व्यक्तित्व को सुरक्षित बनाये रखने के लिए किया गया था वहाँ पर भी लोगों में इन संस्थाओं के प्रति असन्तोष दिखाई दे रहा है। यह वर्ग 'हमें पूर्ण स्वाधीनता चाहिए' का उद्घोष कर पश्चिमी संसदीय लोकतन्त्र के अन्तर्गत जिस नियन्त्रण और अनुशासन को व्यक्ति पर लागू किया जाता है उसे भी सहन करने के लिए तैयार नहीं है। इस वर्ग की दृष्टि में स्वातन्त्र्य और

स्वैराचार में कोई अन्तर नहीं है। पश्चिमी जगत् में विद्यमान हिप्पी सम्प्रदाय इसी कोटि में आता है, ज़ो केवल लोकतान्त्रिक संस्थाओं का ही विरोधी नहीं है वरन् सभी प्रकार की व्यवस्थाओं (Orders) का विरोधी है। इस तरह व्यक्ति को केन्द्र बिन्दु मानकर यह नाटक यूरोपीय एवं पश्चिमी जगत् में विगत तीन–चार सौ वर्षों में होता रहा है।

पारिवारिक इकाई के विरुद्ध विद्रोह

व्यक्ति के बाद अब हम पारिवारिक व्यवस्था का विचार करें, जो एक सर्वमान्य प्रस्थापित तथ्य के रूप में सभी समाजों में सर्वदा विद्यमान रहा है। इसकी अपरिहार्यता को हिन्दू धर्मशास्त्रों, कन्फ्यूसियस, मोहम्मदीय और ईसाइयत सभी के द्वारा स्वीकार किया गया है। लेकिन पश्चिमी जगत् में उसके विरुद्ध भी दो दिशाओं में विद्रोह दिखाई दिया। एक ओर कम्युनिस्टों ने तो यह कहकर पारिवारिक व्यवस्था का विरोध आरम्भ किया कि यह कृत्रिम व्यवस्था है। मनुष्य और मानव जाति के बीच परिवार सरीखी किसी शृंखला या मध्यस्थ की क्या आवश्यकता है? अतः इन्हें तोड़कर कम्यूनों (Communes) की स्थापना करो। दूसरी ओर लोकतान्त्रिक देशों में यह भावना बल पकड़ने लगी कि पारिवारिक व्यवस्था में प्रत्येक घटक को जिस पारिवारिक अनुशासन का पालन करना पड़ता है उसका पालन क्यों किया जाये? यह तो व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विलोम है। अतः संयुक्त परिवार को तोड़ दो। विवाह करके माता–पिता से छुट्टी ले लो। अपना परिवार जितना छोटा होगा, उतना ही अधिक उपभोग किया जा सकेगा और स्वैराचार चल सकेगा।

पुनः संयुक्त परिवार की ओर

किन्तु इन दोनों आन्दोलनों की खामियाँ जल्दी ही सामने आने लगीं और हम देखते हैं कि वे सफल नहीं हो सके हैं। सोवियत संघ

में कम्यूनों का प्रयोग विफल सिद्ध हुआ और इसकी प्रतिक्रियास्वरूप पारिवारिक भावना प्रबल होने लगी। कम्युनिस्ट शासन व्यवस्था में भी अभिभावकत्व (Parenthood) और पितृत्व (Fatherhood) को कानूनी मान्यता देने की पुरजोर माँग की जाने लगी जिसे अन्त में शासन को स्वीकार करना पड़ा। इसी भाँति लोकतान्त्रिक देशों में– विशेष रूप से अमेरिका में हिप्पी सम्प्रदाय आदि के स्वैराचार के विरुद्ध वहाँ के श्रेष्ठ विचारकों ने यह माँग करना आरम्भ कर दिया है कि संयुक्त परिवार प्रणाली अवश्य स्थापित की जानी चाहिए, अन्यथा समाज में स्थिरता न रह सकेगी। यह वैचारिक प्रवाह आज अमेरिका में चारों ओर दिखाई दे रहा है।

राष्ट्रवाद का विरोध

परिवार के बाद की इकाई राष्ट्र या समाज या राष्ट्रीय समाज की है। पर ऐसा दिखता है कि प्रारम्भ में पोपशाही के काल में यूरोप में राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता का जागरण नहीं हुआ था। यह जागरण आगे चलकर पोप के रिलीजन सम्बन्धी हस्तक्षेप और विदेशियों के साम्राज्यवादी आक्रमणों के विरोध में हुआ। इस प्रकार यूरोप में राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता का प्रतिक्रियावादी स्वरूप सामने आने में इस धारणा को बल मिला कि यदि एक ओर राष्ट्रीयता और पोपशाही एक दूसरे से मेल नहीं खा सकती तो दूसरी ओर राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता भी एक दूसरे के विरोधी हैं। फलस्वरूप राष्ट्रीयता का विकृत और अतिरेकी (Extremist) स्वरूप यूरोप के प्रत्येक देश में सामने आया। आगे चलकर इस अतिरेकी राष्ट्रीयता के प्रतिक्रियास्वरूप एक दूसरी अतिशयवादी विचारधारा कम्युनिज्म के रूप में सामने आयी। इसके अनुसार रिलीजन, राष्ट्र (Nation) आदि सब व्यर्थ की बातें हैं, केवल अन्तर्राष्ट्रवाद या अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism) का विचार करना चाहिए। अतः जब सन् १९१४ के महायुद्ध में श्रमिकों ने अपनी–अपनी राष्ट्रीय सरकारों

के साथ सहयोग किया तो लेनिन ने बहुत दु:ख प्रकट किया। उन्होंने कहा कि इस समय तो श्रमिकों को अपनी राष्ट्रीय सरकारों के साथ गद्दारी करके अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार को पुष्ट बनाना चाहिए था।

अन्तर्राष्ट्रवाद से राष्ट्रवाद की ओर

आगे चलकर इन अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों की सरकारें भी भिन्न–भिन्न देशों में स्थापित हो गयीं। लेकिन उस स्थिति में तथाकथित अन्तरार्ष्ट्रीयता वाद का जादू गायब होने लगा और राष्ट्रीयता की भावना पुनः प्रबल होने लगी। यहाँ तक कि मारिसहिंडस नामक विद्वान् ने "मातृभूमि रूस" (Mother Russia) नामक अपनी पुस्तक में अन्तर्राष्ट्रीयतावादी विचारधारा के नाम पर चलने वाली सरकार के अन्तर्गत राष्ट्रीयता का पक्ष पुष्ट किया है। इस दृष्टि से उक्त पुस्तक के दो अध्याय– "अतीत का पुनरन्वेषण" (Re-Discovery of the past) और "रूस रूसियों के लिए" (Russia for Russians) अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज तो हमें इस राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए दो अन्तराष्ट्रीयतावादी सरकारों में एक दूसरे के विरुद्ध चलने वाला संघर्ष स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

मानव की प्रगति अवरुद्ध

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के इस संघर्ष के सन्दर्भ में पश्चिम का मानव जाति के सम्बन्ध में जो विचार है उसमें प्रगति की कोई सम्भावना नहीं दिखाई देती। इसका कारण यह है कि उनके समस्त विचार संकेन्द्री (Homocentric) हैं। इसका आशय यह है कि इस समस्त विश्व का केन्द्र मानव जाति है और उसी के चारों ओर पश्चिमी जगत् का वैचारिक आन्दोलन घूमता रहा है।

स्थायित्व और पूर्णता का अभाव

पश्चिम के इस वैचारिक संघर्ष में क्या सही है और क्या गलत,

आज इस विवाद में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह निष्कर्ष अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि पश्चिम की जो भी विचारधारा जब कभी इस देश में आई तब उसने यही दावा किया कि वह प्रगतिशील विचारधारा है और शेष सभी विचार प्रतिक्रियावादी हैं। लेकिन इन तथाकथित प्रगतिशील विचारधाराओं में कोई भी विचार अधिक देर तक टिक न सका। उनमें एक अतिशयवादी स्थिति (Extreme) से दूसरी अतिशयवादी स्थिति (Extreme) तक परिवर्तन होते रहे। यह स्थिति यही स्पष्ट करती है कि पश्चिम के विचारों में स्थायित्व और पूर्णता (Finality) नहीं है।

पश्चिमी विचार प्रतिक्रिया के प्रतिफल

संक्षेप में पश्चिम की जो भी विचार–रचना है वह भावात्मक (Positive) न होकर प्रतिक्रिया के रूप में अस्तित्व में आई है। आज एक विशेष परिस्थिति एक देश में विद्यमान है तो उसकी प्रतिक्रियारूप वहाँ एक विचार उत्पन्न हुआ। किन्तु परिस्थिति बदलते ही उस विचार में भी परिवर्तन अनिवार्य हो गया। यही कारण है कि प्रतिक्रियावाद पर आधारित होने के कारण पश्चिम में गम्भीर वैचारिक संघर्ष होते हैं। यह वहाँ की दूसरी विशेषता है। वहाँ की तीसरी विशेषता यह है कि वहाँ का कोई भी विचार सर्वकष नहीं है, सर्वव्यापी और पूर्ण नहीं है। इसके विपरीत वह अनेक खण्डों में विभक्त है। चौथी विशेषता यह है कि समय–समय पर विभिन्न विचारों के जो वांछनीय उद्देश्य सामने रखे गये उनके अन्दर सामंजस्य बैठाने का प्रयास नहीं किया गया। उनमें एक तरह की असंगति (Incompatibility) ही दिखाई दी। उदाहरण के लिए हम फ्रान्सीसी राज्य–क्रान्ति को ले लें। इस क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता (Liberty, Equality and Fraternity) के सिद्धान्तत्रयी की घोषणा की। किन्तु सामंजस्य का अभाव होने के कारण स्वतन्त्रता और समता एक दूसरे के विरोधी प्रतीत हुए। इसी कारण स्वतन्त्रता

और समता स्वाभाविक रूप से बन्धुता निर्माण की गारण्टी न दे सकी। यही स्थिति कम्युनिस्ट गुट की है। सम्भव है फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति की भाँति उनके उद्देश्य भी वांछनीय रहे हों, किन्तु वे भी सामंजस्य न ला सके। उदाहरणार्थ उनकी विचारधारा का आदि, अन्त और मध्य का सम्पूर्ण अधिष्ठान भौतिक पदार्थ (Matter) है। अतः भौतिकवाद (Materialism) यह उनका सैद्धान्तिक दर्शन है। हर एक व्यक्ति की प्रगति हो, यह सबकी व्यक्तिगत आकांक्षा है, दूसरी ओर समाज का अनुशासन पूर्णरूप में रहे, ऐसी सामाजिक स्तर पर अपेक्षा की गयी। पर दोनों उद्देश्यों में समन्वय वे न कर सके।

जीवन मूल्य क्या हो?

यह जो आज का विषय है वह अपने देश की वर्तमान परिस्थितियों के लिए अधिक उद्बोधक है। अतः उसे विस्तार से समझना आवश्यक है। आज अपने देश में भी समाजवाद (Socialism) का नारा बहुत जोरों से चल रहा है। किन्तु यदि इस भौतिकवादी दर्शन को हमने आधारभूत मान लिया तो हमें भौतिक जीवन मूल्यों को ही स्वीकार करना होगा और अन्य कोई जीवन मूल्य नहीं रहेंगे। यदि केवल भौतिक जीवन मूल्य रहे तो यह प्रश्न खड़ा होगा कि व्यक्तिगत विकास की प्रेरणा और समानता, इनमें सामंजस्य कैसे किया जाय? यदि एक व्यक्ति अपना व्यक्तिगत विकास चाहता है और उसके लिए प्रेरणा–स्रोत केवल भौतिक और आर्थिक जीवन मूल्य है तो वह स्वाभाविक रूप से यह चाहेगा कि यदि उसका विकास ज्यादा हुआ है तो उसे भौतिक लाभ भी ज्यादा होने चाहिए और उसकी आय ज्यादा होनी चाहिए। यदि समानता के नाम पर यह कानून हुआ कि अधिक से अधिक आय और कम से कम आय में अन्तर अधिक न हो (हम भी यही चाहते हैं) तो यह कहा जायगा कि व्यक्ति के विकास की प्रेरणा समाप्त हो जायेगी। यदि विशुद्ध आर्थिक जीवन मूल्य रखे गये तो प्रत्येक व्यक्ति

यह सोचेगा कि बहुत परिश्रम करके यदि आइन्स्टीन, विश्वेश्वरैया या डॉ० राधाकृष्णन बन जाता है तो भी समानता के कारण उसे बहुत परिश्रम करने पर भी २ हजार रुपये से अधिक नहीं मिलेंगे। दूसरी ओर यदि वह बिल्कुल निकम्मा है और केवल चपरासी का काम करता है तो भी १०० रुपये से कम मिलने वाला नहीं। ऐसी स्थिति में कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो इतना परिश्रम करके डॉ० राधाकृष्णन बनने का प्रयास करेगा? इसका कारण यह है कि यदि प्रेरणा विशुद्ध भौतिक या आर्थिक जीवन मूल्यों की रही तो समानता से व्यक्तिगत विकास की प्रेरणा समाप्त हो जायेगी और यदि व्यक्तिगत प्रेरणा देने का विचार किया और भौतिक जीवन मूल्य कायम रखे तो समानता का बन्धन तोड़ना होगा। आज अपने देश में प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों का जो अभाव (Braindrain) दिखता है उसका कारण भी तो यही है कि लोगों का विशुद्ध भौतिक आर्थिक दृष्टिकोण हो जाने से वे यह सोचते हैं कि यदि उच्चस्तरीय भौतिक विकास यहाँ सम्भव नहीं है तो वे विदेश क्यों न चले जायें?

समन्वयात्मक व्यवस्था

इस दुःस्थिति को बदलने के लिए एक ऐसी जीवन रचना की आवश्यकता है जिसमें जीवन–मूल्य अलग ढंग के हों। इसमें भौतिक और अभौतिक जीवन–मूल्यों की एक सार्वलौकिक व्यवस्था की जाय ('पूर्णतया आध्यात्मिक पद्धति' शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ) इसमें जैसे एक प्रेरणा भौतिक लाभ की है वैसी ही दूसरी प्रेरणा सामाजिक प्रतिष्ठा की है और फिर इन दोनों को संयुक्त कर एक समन्वयात्मक पद्धति का निर्माण आवश्यक है। ऐसी स्थिति का निर्माण अतीत में भारत में किया भी गया था। इसके अन्तर्गत सामाजिक प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत उपभोग की व्युत्क्रमानुपाती (Inverse Ratio) व्यवस्था स्थापित कर कहा गया था कि यदि अधिक से अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा चाहिए

तो कम से कम भौतिक लाभ उठाना होगा। अधिक से अधिक भौतिक लाभ उठाना चाहते हो तो लाभ उठा सकते हो, पर सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं रहेगी। इस समन्वयात्मक और सन्तुलित रचना द्वारा दोनों प्रेरणाओं को बनाये रखा गया।

पश्चिम में समन्वय का अभाव

किन्तु पश्चिम में इसका अभाव दिखता है। रूस जैसे देश में शुरू में हण्टर लगाकर लोगों से काम कराया गया। आज वहाँ न्यूनतम और अधिकतम आय में १ : ८० का अनुपात विद्यमान है और इस प्रकार समानता की स्थिति वहाँ समाप्त हो गई। अब तो वर्गों की विद्यमानता को भी बर्दाश्त किया जा रहा है। इसी बात की पुष्टि यूगोस्लाविया के भूतपूर्व उप प्रधानमन्त्री जिलास ने अपनी पुस्तक 'दि न्यू क्लास' में की है। इतना ही नहीं, वहाँ सामाजिक प्रेरणा उत्पन्न करने के लिए विशेष सुविधाएँ भी दी गयी हैं। जिस समय सोवियत संघ ने प्रथम स्पुतनिक छोड़ा था उस समय अपने को प्रगतिशील कहने वाले क्रुश्चेव ने दर्प भरे शब्दों में उसे कम्युनिज्म की विजय बताया था। इसका प्रत्युत्तर देते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा कि "यह तो कम्युनिज्म की विजय का परिचायक नहीं पराजय का द्योतक है। यदि रूस में वैज्ञानिकों को एक विशेष वर्ग (Privilaged Class) के रूप में विशेष सुविधाएँ न दी गयी होतीं तो वैज्ञानिकों को यह प्रेरणा प्राप्त न होती कि वे स्पुतनिक का निर्माण कर सकें।' इस तरह यह कम्युनिज्म की पराजय हुई। क्योंकि भौतिक जीवन दर्शन के साथ समानता का सामंजस्य वहाँ भी न किया जा सका। युगोस्लाविया हो, रूस हो या बाकी कम्युनिस्ट देश, सर्वत्र यही स्थिति दिखाई देती है। संक्षेप में जिस प्रकार की असंगतियाँ (Incompatibilities) हमें लोकतान्त्रिक देशों में दिखाई देती है वैसी ही असंगतियाँ (Incompatibilities) साम्यवादी देशों में भी विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में पश्चिम के किसी भी

विचार में शाश्वत सत्य या पूर्णता (Finality) और स्थिरता का अभाव है। सर्वत्र खण्ड–खण्ड में विचार करने की प्रणाली वहाँ प्रचलित है। अतः प्रत्येक विचारधारा भावात्मक न होकर प्रतिक्रियात्मक है। जो विभिन्न वांछनीय उद्देश्य उन्होंने एक ही समाज में, एक ही कालखण्ड में अपने सामने रखे उनके मध्य सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता उनमें नहीं थी।

अन्धानुकरण न करें

ऐसी स्थिति में हमें यह सोचना चाहिए कि पश्चिम का अन्धानुकरण करके क्या हम गुजारा कर सकेंगे ? स्वामी विवेकानन्द से पश्चिम के कुछ विचारकों ने कहा था कि "आपकी 'अध्यात्म' चर्चा को हम मान लेंगे, आप हमारी नवीन विचारधारा 'समाजवाद' को मान लीजिए– आर्थिक क्षेत्र में आप हमारी विचारधारा को अपना लें, आध्यात्मिक क्षेत्र में हम आपके दर्शन को स्वीकार कर लेंगे।" स्वामीजी ने प्रत्युत्तर में कहा कि 'भाई ! ठीक है। आपकी नवीन विचारधारा प्रयोगावस्था में है, जबकि हमारा प्राचीनतम राष्ट्र है। हजारों वर्ष की इसकी आयु है। हम कोई कट्टरवादी नहीं हैं। पर आपकी विचारधारा को मानने से पूर्व हमें यह तो देख लेने दीजिए कि उसमें स्थायित्व आ गया है। इस विचार से समाज की धारणा ५०० वर्ष तक हुई है, इसका प्रमाण तो मिलना चाहिए। लेकिन जो विचारधारा प्रयोगावस्था में है, उसे हम नहीं ले सकते।

कम्युनिज्म का लेखा–जोखा

पश्चिम में आज प्रगतिशील विचारधारा कम्युनिज्म की कही जाती है। स्वामी जी के कथन के सन्दर्भ में जरा उसका लेखा–जोखा लिया जाय। रूसी क्रान्ति के ५० वर्ष भी पूरे न हुए थे कि इस विचारधारा में विघटन आरम्भ हो गया। आज कम्युनिज्म की परिभाषा को लेकर

उनमें झगड़े हो रहे हैं। रूस के अनुसार चीन पथभ्रष्ट (Deviationist) और संशोधनवादी (Revisionist) है। चीन के अनुसार रूस पथभ्रष्ट और संशोधनवादी है। दोनों के अनुसार युगोस्लाविया पथभ्रष्ट और संशोधनवादी है। डांगे के अनुसार नम्बूदरीपाद संशोधनवादी हैं और नम्बूदरीपाद के अनुसार डांगे। दोनों की दृष्टि से चारु मजूमदार संशोधनवादी और पथभ्रष्ट है; तो चारु मजूमदार की दृष्टि में डांगे और नम्बूदरीपाद पथभ्रष्ट हैं। जगत के कम्युनिस्टों ने एक दूसरे को जो प्रमाणपत्र दिये हैं यदि उनकी एकत्र गिनती की जाए तो दिखेगा "विश्व साम्यवाद, विश्व पथप्रष्टता के बराबर है।" (World communism is equal to world deviationism) आज उसमें कुछ भी दोषरहित नहीं बच सका है। वैचारिक दृष्टि से आज यह बड़ी दयनीय स्थिति है और यदि ५० वर्ष में यह अवस्था आ सकती है कि तथाकथित प्रगतिशील कहलाने वाले राष्ट्र भी अपने सिद्धान्तों से हटने लग जायें तो स्वामी जी के अनुसार उनसे ५०० वर्षों तक समाज की धारणा करने की आशा किस प्रकार की जा सकती है ?

पुनर्निर्माण के लिए

जब हमें सभी विचारधाराओं पर मनन करना है तो उनका अन्धानुकरण न करते हुए उनके गुण–दोषों को हमें देखना होगा। उनसे जो कुछ श्रेष्ठ है उसे अंगीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। पुनर्निर्माण (Reconstruction) के सम्बन्ध में एक बार राष्ट्रीय स्वयं संघ के सरसंघचालक श्री गुरुजी ने कहा था कि 'हमारी जो प्राचीन रचनाएँ हैं, उनमें ऐसी अनेक शाखाएँ और पत्ते हो सकते हैं जो जीर्ण–शीर्ण हो गये हैं या गल रहे हैं। उन्हें गल जाने देना ही उचित होगा और उसके लिए दु:ख करने का कोई कारण भी नहीं है। इसी भाँति यदि नवीन अंकुर निर्माण होते हैं तो होने दीजिए। हमें तो बस यह देखना है कि उनका मूल वृक्ष के साथ एक संघ जीवन है, एकरस

जीवन है। काल के प्रवाह में, परिस्थिति के अनुसार पुराने पत्ते और शाखाएँ टूट जायेंगी तथा नए अंकुर निर्माण होंगे। यह तो होने ही वाला है। नवीन विचार लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु वे ऐसे अवश्य होने चाहिए जो हमें गन्तव्य स्थान की ओर ले जा सकें। इस विषय में पश्चिम भी गारण्टी नहीं दे सकता, ऐसा दिखता है।

भारतीय जीवन–रचना

अब इस परिस्थिति में जहाँ हम पश्चिम के वैचारिक इतिहास का विचार करते हैं वहाँ वे भी हमारे वैचारिक क्षेत्रों का विचार करते हैं। हमारे यहाँ जो सामाजिक–आर्थिक रचनाएँ रही हैं उनके विषय में उनका प्रतिकूल अभिमत है। उनके दृष्टिकोण से हमारे यहाँ कोई भी ऐसी चीज नहीं है जो उन्हें सुसंगत दिखती हो। इसके विपरीत उन्हें हर क्षेत्र में आन्तरिक विरोधाभास ही दिखाई देता है। एक–एक क्षेत्र का विचार संक्षेप में करें तो उपयुक्त रहेगा। सर्वप्रथम हम धर्म को लें। सभी पश्चिमी देशों को ऐसा लगता है कि यहाँ धर्म में विरोधाभास है। भारत में कोई आस्तिक है, कोई नास्तिक है, कोई द्वैतवादी है, कोई विशिष्टाद्वैतवादी है, कोई ईश्वरवादी है, कोई अनीश्वरवादी है, कोई मूर्तिपूजक है, कोई निराकार की उपासना करता है और सभी इसी परम्परा के हैं, सभी इसी रचना के अंगभूत हैं। ईश्वरवादी हैं, तो वे भी कितने हैं। जितने आदमी उतने देवता। यहाँ ३३ करोड़ देवता हैं। मानों जिस समय ३३ करोड़ की कल्पना की गयी उस समय हमारी जनसंख्या ३३ करोड़ रही होगी। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार मनोवैज्ञानिक, शारीरिक, आध्यात्मिक अवस्था के अनुसार अलग–अलग मार्ग होंगे। पश्चिम में वैचारिक आबद्धता (Regimentation of thought) है। हमारे मार्ग से ही भगवत् प्राप्ति हो सकती है ऐसा जहाँ सोचने का अभ्यास है वहाँ यह लगना अस्वाभाविक नहीं कि भारत में कितना परस्पर विरोध है। कोई आस्तिकता की बात

करता है और कोई नास्तिकता की बात करता है। यह सब उनको विचित्र लगता है। इसी भाँति व्यक्ति की दृष्टि से परिवार, राष्ट्रीय समाज, अन्तर्राष्ट्रीयता आदि की जो भूमिकाएँ हमारे यहाँ हैं उनमें भी उन्हें अन्तर्विरोध दिखाई देता है।

अपने यहाँ यह माना गया है कि व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास होना चाहिए और उसे पूर्ण सुख प्राप्त होना चाहिए। अतः इस तरह की सामाजिक, आर्थिक रचना होनी चाहिए जिससे सम्पूर्ण सुख और विकास प्राप्त हो सके। इसी नाते व्यक्ति को मान्यता देने के साथ–साथ परिवार को भी मान्यता दी गयी है। 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव' कहा गया है। यह नहीं कहा गया है कि व्यक्ति को मान्यता दी गयी है इसलिए शादी के बाद पत्नी को लेकर अलग हो जाओ। इसके विपरीत व्यक्ति और परिवार दोनों को मान्यता देकर उनका अपना–अपना स्थान बताया गया है। आगे यह भी कहा गया है कि 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे'– कुल के लिए एक व्यक्ति का त्याग किया जाय, वह आत्मनाश करे। साथ ही यह भी कहा गया है कि –आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत'– आत्मा के लिए कुल को, सम्पूर्ण पृथ्वी को छोड़ दो। पश्चिम की विचारधारा से प्रभावित व्यक्तियों को इसमें बड़ा अन्तर्विरोध दिखता है। लेकिन वह नहीं है, यह हम सभी जानते हैं।

व्यक्ति और समाज

यही स्थिति राष्ट्रीय समाज और व्यक्ति की अपने यहाँ है। पश्चिम में इस क्षेत्र में भी बड़ा संघर्ष है। वहाँ यह समस्या उग्र हो उठी कि व्यक्ति और समाज का दायरा, उनकी मर्यादा क्या हो ? यदि व्यक्ति का दायरा बड़ा होगा तो समाज की मर्यादा उसी मात्रा में छोटी होगी और यदि समाज का दायरा बड़ा होगा तो उसी मात्रा में व्यक्ति की मर्यादा, उसका दायरा छोटा हो जायेगा। इस तरह पश्चिमी देशों में दोनों के बीच रस्साकशी चल रही है।

भारत में व्यक्ति को भी मान्यता है और समाज को भी। दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं। जहाँ यह सिद्धान्त माना गया कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण सुख और सम्पूर्ण विकास प्राप्त हो–इस तरह की पूरी सुविधा समाज को देनी चाहिए–वहाँ यह भी माना गया कि समाज का अनुशासन प्रत्येक व्यक्ति पर लागू हो। प्रत्येक व्यक्ति एक ओर अपने सुख और विकास की ओर बढ़े और दूसरी ओर स्वेच्छा से स्वयं को समाजाभिमुख, समाज–केन्द्रित एवं समाज–समर्पित करे। अपने परिपक्व सुख और परिपक्व विकास को समाज पुरुष के चरणों पर अर्पित करे। इस प्रकार अपने यहाँ व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं सामाजिक अनुशासन में पूर्ण तादात्म्य दिखाई देता है यद्यपि पश्चिम को इस पर आश्चर्य होता है।

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

यही बात राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की भी है। पश्चिम में राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद का जन्म प्रतिक्रिया में से हुआ। अतः दो देशों की राष्ट्रीयताओं में एक दूसरे के साथ समन्वय नहीं हो पाता और अन्तर्राष्ट्रीयता का तालमेल राष्ट्रीयता के साथ सम्भव नहीं होता। हमारे यहाँ एक राष्ट्रवादी प्रार्थना है: "प्रादुर्भूतः सुराष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे" मुझे सुख और कीर्ति दो क्योंकि मेरा राष्ट्र अच्छा है। आगे सम्पूर्ण विश्व के लिए भी शुभकामनाएँ हमारी प्रार्थना में मिलती हैं। मुझे स्मरण है जब विश्व हिन्दू परिषद् का अधिवेशन चल रहा था तो प्रश्न उठा कि हिन्दू की परिभाषा क्या होगी ? मैं उसकी गहराई में नहीं जाना चाहता। किन्तु उसमें एक पहलू यह था कि हिन्दू को राष्ट्रीय माना जाय या अन्तर्राष्ट्रीय या वह उससे भी ऊपर है ? उसकी परिभाषा कैसी की जाय ? इसका उत्तर यह दिया गया कि जिस समय सम्पूर्ण संसार असंस्कृत था, हम ही केवल संस्कृतज्ञ थे। उस समय हिन्दू राष्ट्रवाद जग की संस्कृति थी (World civilization was identified with Hindu Nationalism) किन्तु उस समय भी हमने अपने राष्ट्रीय

हित के लिए दूसरे राष्ट्रों का शोषण करना नहीं सोचा। "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"– हम आर्य हैं तो सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनायेंगे– हम संस्कृत हैं तो सबको संस्कारित करेंगे, उनके स्तर को ऊँचा उठायेंगे। यह हमारा प्राथमिक भावात्मक राष्ट्रवाद है जो एक ऐतिहासिक तथ्य है और जिसमें राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में विरोध न होकर वह अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार बन जाता है। कोई व्यक्ति राष्ट्रीय है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय न हो, और अन्तर्राष्ट्रीय है तो राष्ट्रीय न हो, ऐसा हमारे यहाँ नहीं दिखता। पश्चिम के लोगों को यह बड़ा विचित्र लगता होगा। वे कहते हैं कि परस्पर विरोधी बातें कैसे कहते हो, एक ही व्यक्ति राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों कैसे हो सकता है ? किन्तु इस विचार में विरोधाभास नहीं है, यह हम देख चुके हैं।

मानवता से भी आगे का विचार

अब इसके बाद जो धारणा आती है, पश्चिम के लोग तो उस पर विचार करते नहीं। वे अधिक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीयतावादी या मानवतावादी हैं। अपने यहाँ मानवता से भी ऊपर विचार किया गया है। मानवेतर सृष्टि की मान्यता अपने ही देश में है। मछलियों, गायों, चीटियों आदि का भरण–पोषण और उनको अपने ही समान मानने वाले लोग यहाँ हैं। उनको भी चीनी, आटा देने वाले लोग हमारे देश में हैं। इतना ही नहीं, तो जो देखने में निर्जीव सृष्टि है उसको भी अपना एक अंग मानकर, उसमें भी भगवान् का अस्तित्व है, ऐसा समझकर पत्थर की पूजा करने वाले लोग अपने देश में हैं। आगे चलकर ऐसा भी साक्षात्कार अपने यहाँ के लोगों ने किया है कि मनुष्य क्या है ? मानवेतर प्राणी क्या है ? बाकी सृष्टि क्या है, निर्जीव चराचर क्या है ? यह जो अस्तित्व है– सारी सृष्टि है, वह एक ही है। पर एकता (Unity) और एकरूपता (Uniformity) इन दोनों में अन्तर है। सब एकरूप (uniform) हैं, यह अपने यहाँ नहीं कहा गया। लेकिन यह

अवश्य कहा गया कि सब मिलकर एक हैं और वह एकता (unity) कितनी दृढ़ है इसको यदि अच्छी तरह बताना हो तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (All each one) कहा जा सकता है। सम्पूर्ण सृष्टि की धारणा करने की क्षमता अपने धर्म में है, अपने देश में है। ऐसे कुछ नियम हैं जो सनातन और चिरन्तन हैं, अतः अपरिवर्तनीय हैं। उन्हीं के प्रकाश में, उन्हीं के आधार पर बदलती हुई परिस्थितियों में देश, काल, परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तनशील रचनाओं का उद्घोष करने वाला धर्म हमारे यहाँ हुआ है। कितनी ही परस्पर विरोधी बातें हों उनमें सामंजस्य हुआ है। यदि एक–एक सूत्र का विचार करें तो परस्पर बहुत विरोधी बातें दिखाई देती हैं। कहीं कहते हैं कि कर्म करो, कहीं कहते हैं संन्यास लो। कभी कहते हैं कि जो कुछ है वह मोक्ष है– फिर कहते हैं कि जो कुछ है सब व्यर्थ है। कभी कहते हैं कि 'धर्मस्यमूलं अर्थः'। किन्तु इन सबमें सामंजस्य ही नहीं तो इससे बढ़कर समन्वयात्मक पद्धति (Co-ordinated system) का निर्माण और इससे भी ऊपर जिसे सहज बुद्धि से समझा नहीं जा सकता और जो अपनी अक्षमता है– इस प्रकार की चुनौती देने वाला धर्म अपने यहाँ विकसित हुआ है। स्वामी विवेकानन्द के कथन को प्रमाण मानकर इस धर्म के विषय में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें समाज की धारणा करने की क्षमता है। हजारों साल तक समाज की धारणा इससे हुई है। यह बात ठीक है कि पिछले बारह–तेरह सौ वर्षों में बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार समाज की रचना में कौन–कौन से परिवर्तन होने चाहिए, इस पर विचार नहीं हुआ।

इस परिवर्तन शब्द से चौंकने की जरूरत नहीं। क्योंकि ऐसे परिवर्तन समाज में समय–समय पर विशुद्ध दर्शन एवं धर्म के आधार पर होते ही रहे। जैसा कि हमारे यहाँ कहा गया है कि "वेदाः विभिन्नाः स्मृतयोर्विभिन्नाः, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।" अर्थात्, वेद विभिन्न हैं, स्मृतियाँ भी विभिन्न हैं, और एक भी मुनि ऐसा नहीं है, जिसके वचनों

को प्रमाण माना जाय। इस तरह के परिवर्तन करने के लिए जो शान्ति का समय चाहिए था वह बारह–तेरह सौ वर्षों तक न मिलने के कारण कुछ विकृतियाँ, कुछ दोष अपने यहाँ अवश्य उत्पन्न हुए हैं। किन्तु इन विकृतियों का आपरेशन किया जा सकता है जैसा कि महात्मा गांधी ने कहा कि "रोग का निदान करो किन्तु रोगी को समाप्त न करो" (Operate the disease but do not kill the patient.) जो मूल रचना है वह निर्दोष है। जो विकृति आ गयी है उसका आपरेशन कर दीजिए। किन्तु व्यवस्था को कायम रखिये। इसी भाँति समाज की धारणा सहस्रों वर्षों से बराबर चली आ रही है। अपरिवर्तनशील सनातन नियम तथा परिवर्तनशील रचना इस प्रकार का मेल अपने यहाँ रहा।

अब प्रश्न यह है कि पश्चिम की विभिन्न विचारधाराएँ नयी हैं तो क्या इसीलिए उन्हें प्रगतिशील, आधुनिक और श्रेष्ठ मान लिया जाय? उचित तो यह होगा कि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। जो अच्छा हो वही लिया जाय। इस दृष्टि से अपनी जो पद्धति है, अपना जो सनातन धर्म है, वह अन्य पाश्चात्य विचारों की तुलना में आज भी महिमामय है। उसकी विशेषताएँ तो बहुत हैं किन्तु आज के सन्दर्भ में उसको स्पष्ट करते हुए स्व० पं० जी ने कहा था कि "हम एकात्म मानववाद के पुजारी हैं।" (We stand for Integral humanism)।

आज का धर्म

दोनों चित्रों में जो अन्तर है वह सम्भवतः स्पष्ट हो गया है। आज की परिस्थितियों के सन्दर्भ में अपने धर्म की विशेषता का नामकरण पंडित जी ने "एकात्म मानवदर्शन" से किया। इसी आधार पर सनातन धर्म की रचना है। यही रचना सम्पूर्ण मानव समाज को सभी कालखण्डों में सुख व सम्पन्नता का आश्वासन दे सकती है।

उपाध्याय जी का स्पष्ट निर्देश

अब हम इस तथ्य को भी ध्यान में रखें कि अपने यहाँ की

वैचारिक प्रक्रिया अलग ढंग की है। इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शन की धारणाओं और अभारतीय विचारकों के विचारों में कुछ मौलिक अन्तर विद्यमान है। उस अन्तर की ओर स्पष्ट निर्देश करते हुए पण्डित जी ने बताया कि पश्चिम में भी इकाइयों, संस्थाओं एवं कल्पनाओं का विचार पृथक्–पृथक् (compartmentalisation) आधार पर किया गया। व्यक्ति का व्यक्ति के नाते, परिवार का परिवार के नाते, समाज का समाज के नाते और मानवता का मानवता के नाते वहाँ विचाार किया गया। किन्तु इन समस्त इकाइयों में कुछ सम्बन्ध है, इसका विचार नहीं किया गया। व्यक्ति का विचार करते समय अन्य सामाजिक अवयवों (organism) को भुला दिया गया। यही बात परिवार, समाज और मानवता का विश्लेषण करते समय हुई। यह पाश्चात्य प्रकृति है। एक ही अवयव (organism) को वे देखते हैं। एक रिलीजन का ही उदाहरण हम ले लें। पश्चिम में अनेक प्रकार के मत–मतान्तर या रिलीजन होंगे किन्तु एक बात में वे समान हैं। प्रत्येक रिलीजन वाला कहता है कि 'मेरा रिलीजन सही है, बाकी सब गलत हैं, अब अपने देश में भी हम देखें। यहाँ भी अनेकानेक सम्प्रदाय हैं। किन्तु यहाँ प्रत्येक व्यक्ति कहता है कि "मेरा सम्प्रदाय सही है, तुम्हारा भी सही है।" "मेरे रिलीजन द्वारा ही ईश्वर प्राप्ति सम्भव है"– यह पाश्चात्य पद्धति है। "तुम्हारे सम्प्रदाय द्वारा ही ईश्वर प्राप्ति सम्भव है" यह भारतीय पद्धति है। उनमें यहाँ सामाजिक आर्थिक क्षेत्रों में भी इसका दर्शन होता है। उनके यहाँ एक–एक इकाई का विचार हुआ। समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि बीच में एक बिन्दु है जो व्यक्ति है। उसको आवृत्त करने वाला उससे बड़ा घेरा परिवार का है। उसको आवृत्त करने वाला किन्तु पिछले घेरे से असम्बद्ध एक दूसरा बड़ा घेरा समुदाय (community) का है। उसको आवृत्त करने वाला उससे बड़ा घेरा राष्ट्र का है और उससे ऊपर जो घेरा है वह मानवता का है। यहाँ तक वे लोग पहुँच गये हैं।

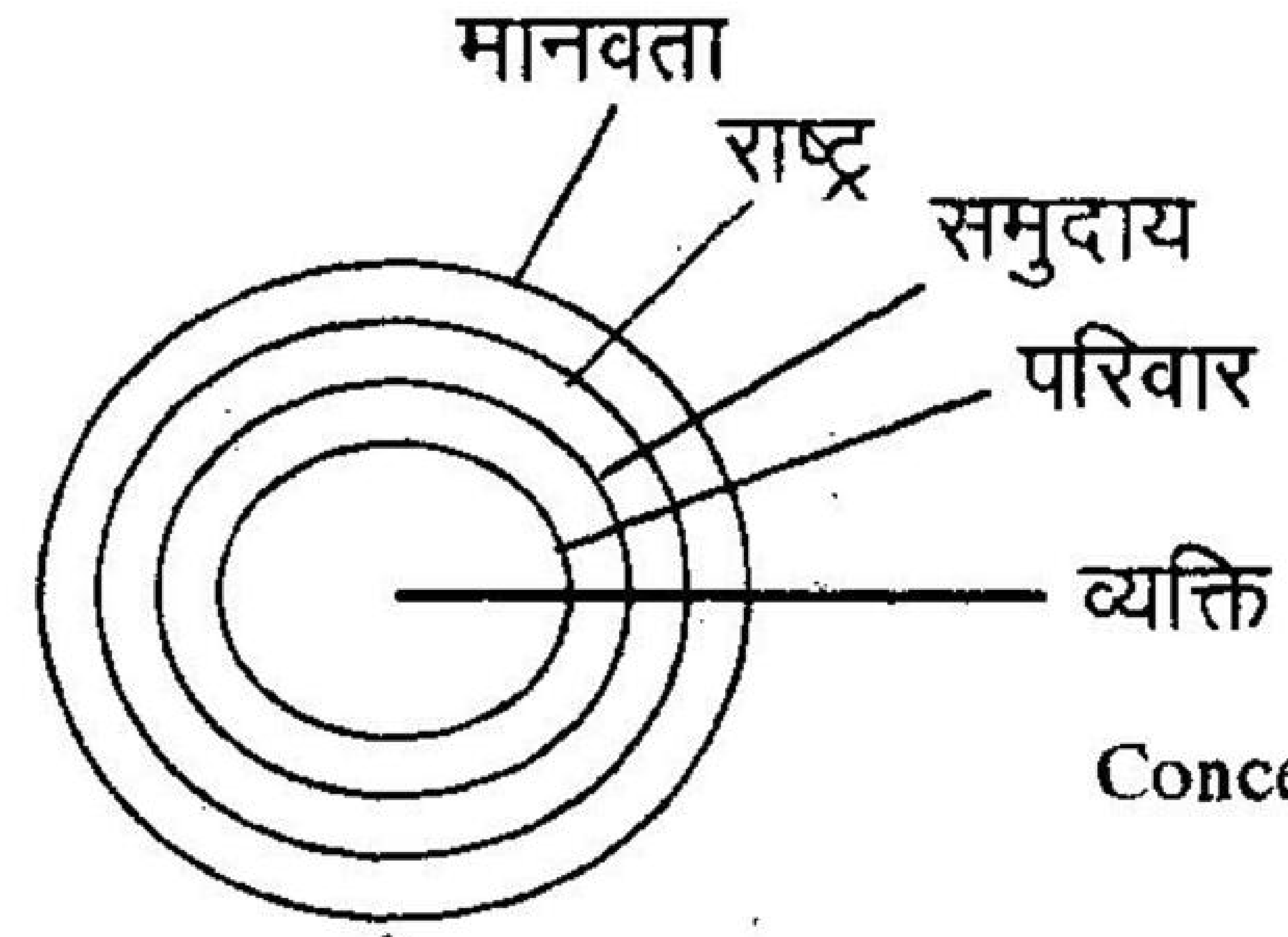

पाश्चात्य जीवन रचना

यह रचना संकेन्द्री (concentric) है। इससे व्यक्ति या मानव केन्द्र–बिन्दु है। अब उससे सम्बन्ध न रखते हुए अन्य घेरे परिवार (family), समुदाय (cummunity), राष्ट्र (Nation) और मानवता (Humanity) के हैं। यह एक दूसरे को आवृत्त अवश्य करते हैं पर एक दूसरे से अलग हैं और एक दूसरे से निर्गमित नहीं होते।

अपने यहाँ जो रचना दी गयी है वह सनातन रचना है और नवीन नहीं है। इसे कुण्डलित, सर्पित या उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाली (spiral) अखण्ड मण्डलाकार रचना कहा जाता है। इसका प्रारम्भ व्यक्ति से होता है। और व्यक्ति को लेकर व्यक्ति से सम्बन्ध न तोड़ते हुए उसी से सम्बन्ध कायम रखते हुए अगला घेरा परिवार का है। उसे खण्डित न करते हुए उससे बड़ा घेरा समाज का है। उसे खण्डित न करते हुए उसी से सम्बद्ध दूसरा घेरा राष्ट्र है। सातत्य रूप में उससे ऊपर का घेरा मानवता का है। और चरम शिखर पर चराचर विश्व का घेरा है।

दोनों रचनाओं का अन्तर

इन दोनों रचनाओं का अन्तर हम ध्यान में रखें तो अच्छा होगा। व्यक्ति, परिवार, समुदाय, राष्ट्रीय समाज, मानवता यह विचार हमने किया और उन्होंने भी किया। उनकी रचना में असम्बद्धता दिखाई देती है। उनकी रचना अलग–अलग इकाइयों में है और एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि वे एक दूसरे को आवृत्त करती हैं। उनका यह विचार एकांतिक (exclusive) होने के कारण रचना संकेन्द्री (concentric) है।

हमारी रचना में पहली इकाई से दूसरी इकाई निकलती है, दूसरी से तीसरी और इस तरह यह क्रम चलता रहता है। उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाली अखण्ड मण्डलाकार (spiral) रचना के कारण इन इकाइयों के हितों में परस्पर विरोध नहीं दिखता। व्यक्ति और परिवार के हित में विरोध नहीं है। परिवार और समुदाय के हित में असंगति नहीं है। समुदाय और राष्ट्र, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीयता में कहीं भी विरोध नहीं दिखता। अपनी मान्यता यह है कि विभिन्न इकाइयाँ एक दूसरे की विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। उदाहरणार्थ बच्चा जब छोटा होता है, वह कुछ भी नहीं जानता। उस अवस्था में उसके लिए एक ही इकाई है– 'अहम्'– मैं हूँ। वह थोड़ा बड़ा होता है। माता– पिता, भाई–बहन को पहचानता है तो परिवार उसके लिए एक इकाई बन जाती है। पर वह अहम् का निषेध (Negate) नहीं करता। "मैं" भी सत्य हूँ, परिवार भी सत्य है। वह और बड़ा होता है। गुण–कर्म का विकास करता है। समान गुण–कर्म रखने वाले लोगों के साथ समुदाय स्थापित करता है। उसके साथ एकात्म होता है। समुदाय (community) के बारे में सोचता है। इसी क्रम में विकास करते हुए बाद में वह सोचता है कि केवल मेरा समुदाय ही नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र मेरा है। फिर अन्तिम संन्यास अवस्था आती है। 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' से

सम्पूर्ण मानवता का विचार आरम्भ कर वह चराचर जगत् से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और विश्व नागरिक ही नहीं तो चराचर सृष्टि का नागरिक (Not only the citizen of the world but the citizen of universe) बनने की महिमामय स्थिति को वह प्राप्त कर लेता है। बचपन के अहंकार से लेकर संन्यासी जीवन की चरमोत्कर्ष अवस्था तक का यह जो सुदीर्घ वैचारिक प्रवास है, उसमें जैसे–जैसे आत्मचेतना बढ़ती जाती है, वैसे– वैसे उसके लिए पुरानी इकाई सब तरह से सत्य होते हुए भी नयी इकाई के सत्य का साक्षात्कार उसको होता जाता है। अन्तिम साक्षात्कार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का साक्षात्कार संन्यास अवस्था में होता है।

अराजकता नहीं विकास क्रम

दूसरे शब्दों में सभी इकाइयाँ सत्य हैं। हमारी आत्मचेतना का जैसे–जैसे विस्तार होगा वैसे–वैसे हमारे साक्षात्कार का विकास होगा। सभी सत्य है, इस कारण एक दूसरे का तिरस्कार नहीं, उसका परित्याग नहीं और निषेध नहीं होगा। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से पौधा निकलता है तथा वहीं से शाखाएँ एवं पल्लव निकलते हैं। उसमें से फूल और फल निकलते हैं। हर एक का आकार अलग है। अंकुर अलग है, पौधा अलग है, फूल अलग है, फल अलग है। एक दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं दिखता। प्रतीत होता है कि यह अत्यन्त अराजक स्थिति (Chaotic condition) है। लेकिन यह अराजक न होकर एक विकासक्रम है। बीज और अंकुर में कोई विरोध नहीं। इन सबमें कोई विरोध नहीं है। सबसे छोटी इकाई से लेकर सबसे बड़ी इकाई तक एकात्मता (Integralism) है। सभी अपने–अपने दायरे में सत्य हैं। कोई एक दूसरे का विरोध नहीं करता। यह भारतीय विचार पद्धति की विशेषता है।

एकात्म जीवन की महत्ता

हमने सबसे छोटी इकाई व्यक्ति पर बल दिया और उसका संगठन किया। हमारे यहाँ व्यक्ति के स्वरूप को जिस प्रकार संगठित और एकात्म (Integrated) किया गया वैसा पश्चिम में नहीं है। वहाँ पर भौतिक प्रगति को ही केवल महत्त्व दिया गया है। सर्वाधिक प्रगतिशील राष्ट्र अमेरिका है। यहाँ भौतिक प्रगति काफी लोगों की हो गयी है किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि यहाँ के सर्वसाधारण व्यक्ति के अन्दर सुख, सन्तोष और समाधान का पूर्णतया अभाव है। वहाँ पर व्यक्ति के जीवन में परस्पर विरोध, असमाधान, असन्तोष, सर्वाधिक अपराध और आत्महत्याएँ दिखाई देती हैं। वहाँ प्रगति हुई है तीव्र रक्तचाप (Highblood pressure) की, हृदय रोग की ओर अपराध वृत्ति की। सम्पूर्ण संसार को खरीद सकने की क्षमता रखने वाला अमेरिका भौतिक समाधान से मानसिक समाधान नहीं प्राप्त कर सका। आखिर व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? सुख– जो चिरन्तन हो, घनीभूत (solid) हो। सब कुछ करने के बाद भी यूरोपीय देशों में समाधान व सुख का अभाव है। ईसा ने कहा था कि 'सम्पूर्ण संसार का साम्राज्य भी प्राप्त कर लिया और यदि आत्मा का सुख खो दिया तो उससे क्या लाभ।' आज पश्चिम में चन्द्रमा के साम्राज्य के लिए होड़ मची है किन्तु वह अपना सुख समाधान खो बैठा है। अपने यहाँ छोटी से छोटी इकाई व्यक्ति संगठित और एकात्म है। यहाँ उसे खण्डों में विभक्त समझने की बुद्धिमत्ता प्रदर्शित नहीं की गयी। लेकिन अमेरिका के एक मनोवैज्ञानिक ने वर्णन किया है कि 'सड़कों पर एक ऐसी बड़ी भीड़ हमेशा लगी रहती है जो आत्मविहीन, मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ, एक दूसरे से अपरिचित और निःसंग स्थिति (A crowd of isolated, solitary and self-alienated personality) में है। उनका अपने ही साथ समन्वय नहीं तो दुनिया के साथ क्या होगा ? व्यक्ति का समाज के साथ समन्वय नहीं। व्यक्ति भी

संगठित और एकात्म इकाई नहीं। केवल भौतिक स्तर पर विचार करने के कारण वहाँ व्यक्ति को भौतिक एवं आर्थिक प्राणी (Economical being) माना गया। यदि भौतिक आर्थिक उत्कर्ष मानव को मिले तो उससे सुख की प्राप्ति होगी, यह माना गया। किन्तु भौतिक आर्थिक उत्कर्ष की चरम सीमा होने पर भी सुख का अभाव है और इसका कारण यही है कि वहाँ खण्ड–खण्ड में विचार करने की प्रणाली है, जिसमें व्यक्ति को केवल भौतिक आर्थिक प्राणी मान लिया गया है और व्यक्ति के सभी पहलुओं को ध्यान में रखकर संगठित एवं एकात्म रूप में विचार नहीं किया गया है।

मर्यादित सुखोपभोग की व्यवस्था

हमारे यहाँ भी कहा गया कि व्यक्ति आर्थिक प्राणी तो है ही इसमें कोई सन्देह नहीं। 'आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च' की तृप्ति की बात हमारे यहाँ भी कही गयी है। उनकी पूर्ति तो होनी ही चाहिए। किन्तु मनुष्य के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्य आर्थिक प्राणी से ऊपर भी कुछ है। वह शरीरधारी, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक प्राणी भी है। उसके व्यक्तित्व के अनेकानेक पहलू हैं। अतः यदि सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सभी पहलुओं का संगठित और एकात्म रूप से विचार न हुआ तो उसको सुख–समाधान की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। अपने यहाँ इस दृष्टि से संगठित एवं एकात्म स्वरूप का विचार हुआ है। व्यक्ति की आर्थिक, भौतिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर यह कहा गया है कि इन वासनाओं की तृप्ति होनी चाहिए; लेकिन यह भी कहा गया कि उन पर कुछ वांछनीय मर्यादा भी आवश्यक है। केवल फ्रायड ने ही काम का विचार अत्यन्त गम्भीरता से किया ऐसी बात नहीं है। हमारे यहाँ भी काम को मनुष्य के अपरिहार्य आवेग के रूप में स्वीकार कर उस पर गम्भीरता से विचार किया गया है। गीता के तृतीय अध्याय के ४२वें श्लोक में कहा गया है कि :–

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।

अर्थात् इन्द्रियाँ (विषयों से) ऊपर स्थित हैं, इन्द्रियों से मन उत्कृष्ट है। बुद्धि मन से भी ऊपर अवस्थित है, जो बुद्धि की अपेक्षा भी उत्कृष्ट है– उससे भी अगम्य है– वही आत्मा है। परन्तु इस श्लोक में "सः" का अर्थ काम अनेक विद्वानों ने बताया है। लेकिन काम को स्वीकार करने पर भी उसे अनियन्त्रित नहीं रहने दिया। भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा कि मैं काम हूँ। पर यह भी कहा कि "धर्माऽविरुद्धोभूतेषु कामोऽस्मिन् भरतर्षभ।" अर्थात् मैं काम हूँ, काम की पूर्ति भी होनी चाहिए, पर वह धर्म विरुद्ध न हो।

धर्माधिष्ठित जीवन रचना

अर्थ को भी अपने यहाँ स्वीकार किया गया है। अर्थशास्त्र की भी रचना हुई। सबकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति इतनी अवश्य होनी चाहिए कि उसके कारण अपना पेट पालने के लिए व्यक्ति को २४ घण्टे चिन्ता करने की आवश्यकता न हो। उसे पर्याप्त अवकाश मिल सके, जिससे वह संस्कृति, कला, साहित्य और भगवान् आदि के बारे में चिन्तनशील हो सके। इस प्रकार अर्थ और काम को मान्यता देकर भी यह कहा गया है कि एक–एक व्यक्ति का अर्थ और काम उसके विनाश का कारण न बने या समाज के विघटन का कारण न हो। इस दृष्टि से हमारे यहाँ के प्राचीन द्रष्टाओं ने विशिष्ट दर्शन दिया था। उसमें विश्व की धारणा के लिए शाश्वत नियम (Eternal-laws) और सार्वजनीन नियम (universal laws) देखे थे, उनका दर्शन किया था। उन्हें उन्होंने खोजा, लिखा अथवा संग्रहीत नहीं किया था अपितु उनका मानस दर्शन किया था। व्यक्ति को विनाश से बचाने के लिए, समाज को विघटन से बचाने के लिए, व्यक्ति के परम उत्कर्ष को प्राप्त करने

के लिए सार्वजनीन एवं सार्वदेशिक नियमों के प्रकाश में जो व्यवस्था उन्होंने बनायी उसके समुच्चय को धर्म कहा गया। इस धर्म के अन्तर्गत अर्थ और काम की पूर्ति का भी विचार हुआ। हर एक व्यक्ति परम सुख यानी मोक्ष प्राप्त कर सके, इसका चिन्तन हुआ। इस प्रकार धर्म और मोक्ष के मध्य अर्थ और काम को रखते हुए चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना अपने यहाँ रखी गयी। इस समन्वयात्मक, संगठित और एकात्मवादी कल्पना में व्यक्ति का व्यक्तित्व विभक्त नहीं हुआ। वह आत्मविहीन एवं मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ प्राणी न बन सका। इस चतुर्विध पुरुषार्थ ने प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक बौद्धिक क्षमताओं के अनुसार अपना जीवनादर्श चुनने का अवसर दे दिया और साथ ही व्यक्तित्व को अखण्ड बनाये रखा।

एकात्म मानवदर्शन क्या है ?

यह स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व रूपी विभिन्न पहलू संगठित नहीं हैं या व्यक्ति संगठित नहीं है, वहाँ समाज संगठित कैसे हो सकता है ? इस संगठित आधार पर ही अपने यहाँ व्यक्ति से परिवार, समाज, राष्ट्र, मानवता और चराचर सृष्टि का विचार किया गया। एकात्म मानवदर्शन (Integral Humanism) इसी का नाम है। इसके तार्किक अनुक्रम (Logical Sequence) के रूप का भी हम विचार करें तो इस सम्बन्ध में हमें यही दिखेगा कि इसके कारण अलग–अलग इकाइयों में संघर्ष की तो बात है ही नहीं, वे तो एक दूसरे से निकलने वाले विकासक्रम का ही आविष्कार हैं। ऐसी स्थिति में सभी इकाइयाँ अपने–अपने क्षेत्र में स्वायत्त किन्तु अपने से ऊपर की इकाइयों के साथ एकात्म होते हुए चल रही हैं। जहाँ तक मानव समाज–रचना का प्रश्न है, इसका अन्तिम अनुक्रम (Sequence) यही हो सकता है– व्यक्ति परिवार इसी में आगे बढ़ते–बढ़ते राष्ट्र का राष्ट्रीय शासन और फिर इसी एकात्म मानवदर्शन के आधार पर

विश्वराज्य (One World State) का आविष्कार होगा। वैचारिक जगत् में उसका दूसरा तार्किक अनुक्रम (Logical Sequence) अद्वैत सिद्धान्त का साक्षात्कार होगा।

एकात्म मानवदर्शन की फलश्रुति

अपने इस एकात्म मानवदर्शन के अन्तर्गत अस्तित्व में आने वाला विश्वराज्य कम्युनिस्टों के विश्वराज्य से बिल्कुल भिन्न है। कम्युनिस्टों का विश्वराज्य एक केन्द्र पर आश्रित है। हमारा विश्वराज्य अनेक केन्द्रों पर निर्भर होगा। कम्युनिस्ट व्यवस्था में वैचारिक आबद्धता के अन्तर्गत एकरूपता दिखायी देगी। किन्तु अपने विश्वराज्य में ऐसी थोपी गयी एकरूपता नहीं होगी। एकात्म मानवदर्शन प्रत्येक राष्ट्र को अपनी–अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार विकास करने की स्वतन्त्रता देगा। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण–कर्म के अनुसार विकास कर, विकास का सम्पूर्ण फल समाज–पुरुष को अर्पित करता है, उसी तरह प्रत्येक राष्ट्र अपने को मानवता का एक अंग समझेगा। हम सभी मानवता के साथ अपने को एकात्म समझ लें और सम्पूर्ण मानवता की प्रगति के लिए अपने राष्ट्र की जो विशेषताएँ होंगी, प्रगति की जो विशेषताएँ होंगी, उसका परिपक्व फल मानवता के चरणों पर अर्पित करेंगे। इस तरह हर एक राष्ट्र स्वायत्त रहते हुए अपना विकास भी करेगा; किन्तु विश्वात्मा का भाव मन में रहने के कारण एक दूसरे का पोषक, सम्पूर्ण मानवता का पोषक विश्वराज्य, पं० दीनदयाल जी के एकात्म मानवदर्शन की रचना की दृष्टि से चरम परिणति होगी। इसी भाँति वैचारिक क्षेत्र में अद्वैत का साक्षात्कार तर्कशुद्ध परिणति है। इतना हम आज ध्यान रखें तो आज की परिस्थिति में जो वैचारिक संभ्रम चारों ओर दिखाई दे रहा है, उस कुहासे को दूर करना कठिन न होगा।

☆

लोकहित प्रकाशन
लखनऊ